अनुकम्पा

[अहिंसा के विविध पहलुओं का विवेचन]

लेखक :

रतनचन्द चोपड़ा बी० ए०

प्रकाशक—

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

२०१, हरीसन रोड,

कलकत्ता

प्रकाशक—
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा
२०१, हरीसन रोड,
कलकत्ता

प्रथम संस्करण : १५ जुलाई, १९४८
२००० प्रति

मुद्रक—
महालचन्द बयेद
ओसवाल प्रेस
१८१, क्रोस स्ट्रीट,
कलकत्ता

दो शब्द

अनुकम्पा या अहिंसा के विषय पर यह पुस्तक छोटी होने पर भी बड़ी सारगर्भित है। थोड़े से पृष्ठों में लेखक ने इस विषय पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला है। आचार्य भीखणजी के अहिंसा विषयक विचारों का सुन्दर स्पष्टीकरण इस पुस्तक में है।

आचार्य भीखणजी जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य और प्रतिष्ठाता थे। उनका जन्म मारवाड़ राज्य के कटालिया ग्राम में सम्वत् १७८३ की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। उन्होंने २५ वर्ष की युवावस्था में घरबार छोड़ जैन सन्यास धारण किया। ८ वर्ष तक वे जैन आचार्य रघुनाथजी के सम्प्रदाय में रहे। बाद में जैन आगम अनुसार कठिन सन्यास पालन करने के लिए उनसे अलग हो गए और पुनर्दीक्षित हो शुद्ध साधु जीवन-यापन का विचार ठान लिया। नव दीक्षा के लिए अन्य भी १२ साथी जुट गए। उस समय स्वामीजीके विचारों से सहमत श्रावकों की संख्या भी १३ थी। १३ ही साधु और १३ ही श्रावकों के इस विचित्र संयोग के कारण एक सेवक कवि ने उनके पंथ का नाम 'तेरापंथ' निकाल दिया। आचार्य महाराज ने कहा—"हे प्रभु! तेरा पथ है वही हमारा पथ है—इसलिए हम भले ही तेरापंथी कहलाए।" स्वामीजी और उनके साथियों ने १८१७ में नव दीक्षा ग्रहण की।

स्वामीजी और उनके साधु बड़े कठोर आचार का पालन करते। 'अहिंसा' की साधना जैन साधुओं के जीवन की खास साधना होती है। स्वामीजी अहिंसा के महान् उपदेष्टा और साधक थे। उन्होंने जिन भाषित अहिंसा का व्यापक प्रचार किया और उसके पालन में आ घुसी शिथिलता की धज्जियां उड़ाई। जैन तत्व क्षेत्रमें छः प्रकार के जीव माने गए हैं और सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार करने का उपदेश दिया गया है। छोटे-बड़े स्थावर त्रस का वहां कोई अन्तर नहीं। स्वामीजी ने जैन अहिंसा की इस विशेषता की ओर उस समय के साधुओं का ध्यान आकर्षित

किया और निर्लिप्त रह मन वचन काया रूपी योग और करने कराने अनुमोदन करने रूप प्रकारों से अहिंसक रहने की प्रेरणा की। इस पुस्तक में स्वामीजी की क्रांति और इस दिशामें उनके प्रयत्न का थोड़ा पर हृदयग्राही वर्णन आया है।

श्रावक गृहस्थ होता है। गृहस्थी के बंधन के कारण पूरी अहिंसा उसके लिए शक्य नहीं होती। कई हिंसाएँ उसके लिए अनिवार्य व आवश्यक सी होती हैं। इन हिंसाओं को अहिंसा करार देने का मन होने लगता है। 'जो जरूरी है वह धर्म क्यों नहीं ?—कमजोर मन इस तर्क के वशीभूत हो जाता है।

स्वामीजी ने कहा : "हिंसा हिंसा ही रहेगी, अनिवार्यता वश वह अहिंसा नहीं हो जायगी। जो हिंसा को अहिंसा करार देते हैं वे मिथ्यात्व का प्रचार करते हैं। "उन्होंने कहा था :'जो हिंसा कियां धर्म हुवे तो, जल मथियां घी आवैजी'—'यदि हिंसा में धर्म हो तो जल मथने से घी निकले।' हिंसा और अहिंसा को उन्होंने धूप और छांह, पूर्व और पश्चिम के मार्ग की तरह एक दूसरे से भिन्न बतलाया और हिंसा में पाप और अहिंसा में धर्म की भावना को पुष्ट करने का उपदेश दिया। लेखक ने सुन्दर शब्दों में बताया है कि सत्य-दृष्टि से कैसे आत्म का उद्धार होता है। यह पुस्तक 'अहिंसा' के बारे में फैली हुई गलतफहमियों को दूर करती हुई एक नया प्रकाश देती है। आशा है महासभा का यह प्रकाशन पाठकों को रुचिकर होगा।

२०१, हरिसन रोड,
कलकत्ता।

श्रीचंन्द रामपुरिया
मंत्री

अनुक्रमणिका

जैन धर्म और अनुकम्पा :

अनुकम्पा ही विश्व का स्व-पर कल्याणकारी मूल तत्व है। आत्मिक उत्थान के लिये तो यह अनिवार्य है। अनुकम्पा का महत्व हृदय में सीधे बैठ जाता है। हम अपनी सुख साधना में व्याघात नहीं चाहते ; अन्य प्राणियोंके इसी भाव की कल्पना में अनुकम्पा का उद्गम है। प्रत्येक धर्म मत ने अनुकम्पा को बड़ी उच्च दृष्टि से देखा है। अनुकम्पा या दया जैन धर्म का तो प्राण ही है। निम्नलिखित श्लोक इन्हीं भावों की प्रतिध्वनि है।

दया महानदी तीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः।
तस्या शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम्॥

सच तो यह है कि दया ही आत्म गुणों का पोषक तत्व है।

यों तो प्रत्येक धर्म दया का झण्डा ऊँचा उठाये रखने का दावा करता है - वेद परम्परा ने भी घोषित किया है, "मा हंतव्यानि सर्व भूतानि" - पर दया के ऊपर जैन दर्शन के जोड़ का गहन एवं विस्तृत विवेचन अन्य स्थानों में नहीं मिलता। अधिकतर तो ऐसे विवेचन की आवश्यकता ही नहीं अनुभव करते। दया तो जीवन में उतारने की वस्तु है, न कि चर्चा की। ठीक, खूब ठीक। पर किसी तत्व को पूरी तरह समझे बिना हम उसको पूरी तरह काम में भी तो नहीं ला सकते। जैन धर्म की यह विशेषता है कि इसने केवल दया की महिमा ही न गाई है पर इस मूल तत्व पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से बड़ा स्पष्ट प्रकाश डाला है—दया के विभिन्न पहलुओं को समझाने की स्तुत्य चेष्टा की है। यहाँ यह कह देना भी असांगिक न होगा कि दया सम्बन्धी विवेचन जैन दर्शन की दार्शनिक गुत्थियों के तार तार खोलने की विशिष्ट प्रवृत्ति को भी स्पष्ट करता है।

दया के भेद :

जैन दर्शनानुसार दया को चार मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये भेद निम्नांकित हैं :—

द्रव्य दया :

जीव मात्र को मानसिक कायिक या वाचिक कोई भी प्रकार का कष्ट देने से दुःख की अनुभूति होती है इस दुःख से त्राण पाने की वह सतत चेष्टा करता है अतः "आत्मवत् सर्व भूतेषु," ऐसा समझ कर विवेकशील मनुष्य अन्य प्राणियों को मानसिक वाचिक या कायिक कोई भी प्रकार का कष्ट पहुंचाने में हिचकेगा। जिस सीमा तक वह अन्य जीवों को कष्ट नहीं पहुंचाता उसी सीमा तक वह दया का पालन करता है। यही द्रव्य दया है। निज के सुख, पारिवारिक स्वार्थ या देश या जाति हित के लिये भी अन्य प्राणियों को कष्ट देना या उन्हें प्राणच्युत करना द्रव्य दया का लोप है— क्रूरता है।

भाव दया :

विकास भेद के अनुसार हम प्राणियों के दो भेद कर सकते हैं। एक वे, जिनकी सुख कल्पना बाह्य पौद्गलिक पदार्थों तक ही सीमित है और एक वे जो पौद्गलिक सुखों के अनित्य भाव को समझ कर शाश्वत आत्मिक सुख प्राप्ति का उद्योग करते हैं। आत्म गुणों के विकाश से ही आत्मिक सुख प्राप्त होता है। इस तथ्य को हृदयंगम कर इसे प्राप्त करने या अन्य जीवों के आत्मिक सुख प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त तथा निष्कंट करने में ही भाव दया है। सच है "आत्म गुण अविराधना भाव दया भण्डार"। द्रव्य दया का रूप स्थूल है। साधारण बुद्धि भी इसे ग्रहण कर सकती है पर भाव दया के तत्व को समझने के लिये मानस का पर्य्याप्त विकास अनिवार्य है—आत्म चिंतन की भी आवश्यकता है। एक और भेद ध्यान देने योग्य है। द्रव्य दया में

प्रवृत्ति का निरोध है, इसका स्वरूप निरोधात्मक है पर भाव दया में इसी का विधायक स्वरूप प्रस्फुटित होता है। कुप्रवृत्ति के नियमन और सुप्रवृत्तियों के उत्कर्ष से ही आत्म-विकास अविलम्ब हो सकता है।

स्वदया :

जीवात्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है। तिस पर भी उसे सुख एवं विराम नहीं मिला। इसका कारण परभूत जड़तत्व की आसक्ति है अतः इस दुःख मूल आसक्ति का उच्छेद कर स्वभाव में लीन होना ही निज सुख तथा शान्ति की प्राप्ति है—यही स्व-दया है। एक दृष्टि से तो दया मात्र ही स्व-दया है। दया दया के पात्र (जिस पर दया की जाय) का उपकार करती है सही पर उससे अधिक दया के कर्त्ता का। दया का पूर्ण एवं शुद्ध पालन ही तो आत्मिक विकास तथा परम शान्ति का राजमार्ग है।

परदया :

दया का व्यवहारिक या प्रचलित अर्थ पर दया से है। किसी भी दूसरे प्राणि के सुख वृद्धि या दुख निवारण की क्रिया को परदया में सम्मिलित करते हैं। ऐसे मन्तव्य से शायद ही किसी का विरोध हो। पर परदया की सूक्ष्म मिमांसा में हम यहीं पर नहीं रुक सकते। कई प्रश्न या शंकायें उपस्थित होती हैं। इनका समाधान करना आवश्यक है। दया दूसरे प्राणियों के सुख वृद्धि की चेष्टा है या इससे बेहतर, दूसरे प्राणियों के दुःख निवारण का प्रयत्न। पर अब प्रश्न यह उठता है कि इस सुख या दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है? इस स्वरूप का निर्णय कौन करे? क्या वह जो दया का पात्र है या वह जो दया का कर्त्ता? दया का पात्र कौन है? क्या किसी की प्राण रक्षा ही दया है? क्या वह दया जिसमें एक के सुख के लिये दूसरे को दुःख हो करणीय है? इन प्रश्नों के विवेचन से यह

निष्कर्ष निकलता है कि परदया के भी दो उपभेद करने आवश्यक हैं-एक अदोष एवं दूसरा सदोष या शास्त्रीय भाषा में कहें तो सावद्य तथा निरवद्य।

सर्वोत्कृष्ट दया :

दया पर सदोषता का आरोप बहुतेरे मनुष्यों को अखरेगा। यह उनके चिर मान्य विचारों पर कुठाराघात करता है। पर हमें भावावेष में न पड़कर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिये। मुंह देखी कहने में तो सत्य का गला घोंटना ही पड़ता है। सत्य और वह भी मनोमुग्ध यह तो सोने में सुगन्ध का मेल है। यह अति दुष्प्राप्य है। संस्कृत में एक उक्ति है, 'सत्यं मनोहारि वचो हि दुर्लभम्'। हम यह भी जानते हैं कि सत्य और वह भी एक अनूठे सत्य का तिरस्कार प्रायः हुआ ही करता है। इतिहास का इतिहास इसकी साक्षी में पेश है। पर हमें यह हर समय स्मरण रखना चाहिये कि उच्च आदर्श लोक रुचि का अन्धाधुन्ध अनुसरण नहीं करता पर शुद्ध रुचि निर्माण की चेष्टा करता है। लोक रुचि का अनुसरण तो निम्न स्तर की राजनीति मात्र है—इसमें धार्मिक विचारों की उच्चता एवं गम्भीरता कहाँ? पुरुषार्थ इसी में है कि लोक रुचि को शुद्ध आदर्श ढांचे में ढालने की चेष्टा करें न कि उसी ढांचे में स्वयम् ढल जांय।

ऊपर पर-दया के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों को व्यतिक्रमानुसार लेकर अंतिम प्रश्न पर हम यहाँ कुछ विवेचन करते हैं। प्राणधारी की हत्या करना या उसे कष्ट देना क्रूरता है—पाप है; यह शायद ही किसी को अमान्य हो। जैन धर्म की अहिंसा मूल प्रवृत्ति में से तो बराबर यही ध्वनि गुंजरित होती है। अतः दशवैकालिक सूत्र की इस गाथा को उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा।

> सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥

समस्त जीव जीने की इच्छा रखते हैं, मृत्यु कोई नहीं चाहता। अतः प्राणिवध घोर पाप है. साधु इसका परिहार करता है। सच है, जीवन किसे प्रिय नहीं? क्षुद्र से क्षुद्र, दुःखी से दुःखी जीव भी जीवन का मोह नहीं छोड़ता। अतः प्राण हरण महा पाप है और अभय दान ही सर्वोत्कृष्ट दया।

प्राणी क्या?:

अब हमें देखना चाहिये कि प्राणधारी हैं कौन। जैन दर्शन ने प्राणी या जीव का अति सूक्ष्म विवेचन कर इसके लक्षण एवं पुद्गल निर्मित इसके वासस्थान शरीर का सविस्तार उल्लेख किया है। चैतन्य ही जीव का लक्षण है। जिसमें चेतना शक्ति हो, जो सुख दुःख का अनुभव कर सके वही जीव है। कर्म प्रेरणा से जीव भिन्न भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है तथा नाना शरीर धारण करता है। एक जीव जो चींटी से क्षुद्र रूप में परिभ्रमण कर रहा है वही कालान्तर में हाथी से बलिष्ट एवं वृहदाकार शरीर का धारक हो सकता है या विकास क्रम से कर्म-क्षय होने पर वही मानव शरीर धारण कर चमत्कारपूर्ण बुद्धि वैभव दिखा सकता है; जो मूढ़ मति के नाम से उपहास्य बन रहा है वही विकास करके चेष्टा एवं कर्मक्षय से भवांतर में महाऋद्धि बन सकता है। विभिन्न आकारों तथा शरीरों के धारण से जीव के चेतनत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक ही दीपशिखा को भांति भांति के छोटे बड़े, स्वच्छ, स्वच्छतर या स्वच्छतम पात्रों में रखने से उसका बाह्य आकार या रूप असदृश होगा सही पर उनमें मूल ज्योति तो एक सी ही रहेगी। मुझमें, आपमें, और हमारी चारों तरफ फैले हुए जीव जगत् में बस एक ही जैसे असंख्यात प्रदेशी जीव का स्वरूप है। चेतना शक्ति की दृष्टि से जीव और जीव में कोई विभेद नहीं, अर्थात सुख दुःख की अनुभूति तो सब में एक रूप है, भेद है केवल आकार में, शरीर में, पद में या एक ही शब्द में पुण्य पाप के तारतम्य में।

जीव भेद :

शारीरिक स्वरूप भेद से जीवों को ६ मुख्य समुदायों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है :—(१) वह जीव समुदाय जो पृथ्वी के पुद्गलों से शरीर रचना करता है (२) वह जो जल से शरीर रचना करता है (३) वह जिनका पवन ही शरीर है (४) वह जिनका अग्नि-शरीर है (५) वह जिनका वनस्पति-शरीर है (६) तथा वे जो त्रस हैं अर्थात् जिनमें आवागमन की, चलने फिरने की शक्ति है। त्रस जीवों के इन्द्रिय न्यूनाधिक्य के अनुसार चार उपभेद हैं—बेइन्द्री (स्पर्श तथा रस इन्द्री युक्त जैसे लट, गिडोला इत्यादि); तेइन्द्री (स्पर्श, रस तथा घ्राण इन्द्री युक्त जैसे कीड़ी मकोड़े इत्यादि); चौरेन्द्री (स्पर्श, रस, घ्राण तथा चक्षु इन्द्री युक्त जैसे मक्खी इत्यादि) पंचेन्द्री (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत इन्द्री युक्त जैसे गाय, घोड़े, पशु, पक्षी इत्यादि)। मानव प्राणी पंचेन्द्री जीवों के अन्तर्गत हैं, पर ये विशिष्ट पद वाले हैं—इनकी विवेक तथा विचार शक्ति विशेष रूप से विकसित है। इनमें शेषोक्त भेद त्रस जीव तो अपनी आवागमन की क्रिया के कारण जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ पुरुषों द्वारा भी जीव श्रेणी में शीघ्र ही सम्मिलित कर लिया जाता है। पर इसके पूर्व के जीव समुदाय तो स्थावर हैं, इनमें जीव सम्बन्धित बाह्य क्रियाओं का अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता तथा इसीलिये इनके जीवत्व के सम्बन्ध में शंका उठनी अस्वाभाविक ...। पर हमें हर्ष है कि विज्ञान ने ऐसी शंकाओं का समाधान ... की क्रियाओं को प्रत्यक्ष दिखा कर कर दिया है। आचार्य ...दीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध किया है कि पेड़ पौधों में, लता गुल्मों ...र्थात पूरे उद्भिज्ज जगत् में संवेदन शक्ति काफी तीव्र रूप में मिलती ...। इसी भांति पृथ्वी एवं जल में जीव का अस्तित्व विज्ञान-प्रमाणित ...। यही प्रमाण देर से, वायु तथा अग्नि में जीव स्थिति की धारणा

को पुष्ट करता है। उपर्युक्त पांच प्रकार के स्थावर जीव बड़े छोटे हैं। इनकी भाषा मौन है। हम इनके दुःख का आभास क्रन्दन या अश्रुपात में नहीं पाते तथा यही कारण है कि इनकी व्यथा की गहराई भी हम कभी नहीं नाप सकते। पर क्या किसी की मूक पीड़ा का उपहास करना उचित है? क्या एक अन्धे, गूंगे और बहरे मनुष्य को कष्ट देना इसलिये अपराध नहीं माना जायेगा कि वह दुःख प्रकाश नहीं कर सकता? हमें सखेद कहना पड़ता है कि जैनेतर तो क्या स्वयम् जैन विचारकों में से भी कई एक ने भ्रम में पड़ कर इन निरीह प्राणियों की कीमत कूलने में शास्त्रों के भावों की अवहेलना की है। उपदेश दिये गये हैं कि मनुष्य, जो जीव जगत् का मुकुट है, की सुख वृद्धि के लिये स्थावर जीवों का हनन अपराध रहित है। ऐसी प्ररूपणा मानव हृदय की दुर्बलता का सहारा पाकर सूखे वन में लगी आग की तरह फैल गई। ऐसी मान्यता की जड़ मजबूत करने के लिये भावुकता का सहारा भी लिया जाता है। प्रश्न उठाया जाता है कि तृषातुर को जल पान न कराना या क्षुधा संतप्त की क्षुधा न मेटना कितना बड़ा अनर्थ होगा। ऐसा न करना दया की विडंबना होगी। ऐसी भावुकता का सहारा लेने के पहले वे आसानी से भुला देना चाहते हैं कि एक जीव की तुष्टि के लिये कितने जीवों की घात होगी। इस सम्बन्ध में, हमारे दृष्टिकोण की न्यायपरायणता हमारे सम्पूर्ण विवेचन पर ध्यान देने से अवश्य स्पष्ट हो जायेगी। पाप करते हुए भी पाप को पाप जानना उससे बचने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक है। खून के प्याले को आंख मूंद कर दूध के फेर में पीते जाने के बनिस्बत उसके असली रूप को जानने से ही एक दिन घृणा होने पर वह शीघ्र त्यागा जा सकेगा।

दया और आचार्य भीखणजी :

प्रातःस्मरणीय श्रीमद् आचार्य भिक्षु गणिराज का जन्म दया

जीव भेद :

शारीरिक स्वरूप भेद से जीवों को ६ मुख्य समुदायों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है :–(१) वह जीव समुदाय जो पृथ्वी के पुद्गलों से शरीर रचना करता है (२) वह जो जल से शरीर रचना करता है (३) वह जिनका पवन ही शरीर है (४) वह जिनका अग्नि-शरीर है (५) वह जिनका वनस्पति-शरीर है (६) तथा वे जो त्रस हैं अर्थात जिनमें आवागमन की, चलने फिरने की शक्ति है। त्रस जीवों के इन्द्रिय न्यूनाधिक्य के अनुसार चार उपभेद हैं—बेइन्द्री (स्पर्श तथा रस इन्द्री युक्त जैसे लट, गिडोला इत्यादि); तेइन्द्री (स्पर्श, रस तथा घ्राण इन्द्री युक्त जैसे कीड़ी मकोड़े इत्यादि); चौरेन्द्री (स्पर्श, रस, घ्राण तथा चक्षु इन्द्री युक्त जैसे मक्खी इत्यादि) पंचेन्द्री (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत इन्द्री युक्त जैसे गाय, घोड़े, पशु, पक्षी इत्यादि)। मानव प्राणी पंचेन्द्री जीवों के अन्तर्गत हैं, पर ये विशिष्ट पद वाले हैं—इनकी विवेक तथा विचार शक्ति विशेष रूप से विकसित है। इनमें शेषोक्त भेद त्रस जीव तो अपनी आवागमन की क्रिया के कारण जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ पुरुषों द्वारा भी जीव श्रेणी में शीघ्र ही सम्मिलित कर लिया जाता है। पर इसके पूर्व के जीव समुदाय
इनमें जीव सम्बन्धित बाह्य क्रियाओं का अस्तित्व
तथा इसीलिये इनके जीवत्व के सम्बन्ध में शंका
नहीं। पर हमें हर्ष है कि विज्ञान ने ऐसी
जीवत्व की क्रियाओं को प्रत्यक्ष दिखा
जगदीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध किया
में अर्थात पूरे उद्भिज्ज जगत् में
है। इसी भांति पृथ्वी एवं जल
है। यही प्रमाण शेष दो, वायु

उपर्युक्त पांच प्रकार के स्थावर जीव बड़े छोटे हैं।
। हम इनके दुःख का आभास क्रन्दन या अश्रुपात
ो कारण है कि इनकी व्यथा की गहराई भी हम
े। पर क्या किसी को मूक पीड़ा का उपहास करना
एक अन्धे, गूंगे और बहरे मनुष्य को कष्ट देना
नहीं माना जायेगा कि वह दुःख प्रकाश नहीं कर
खेद कहना पड़ता है कि जैनेतर तो क्या स्वयम् जैन
भी कई एक ने भ्रम में पड़ कर इन निरीह प्राणियों की
शास्त्रों के भावों की अवहेलना की है। उपदेश दिये
ाय, जो जीव जगत् का मुकुट है, की सुख वृद्धि के लिये
का हनन अपराध रहित है। ऐसी प्ररूपणा मानव
लता का सहारा पाकर सूखे वन में लगी आग की तरह
ऐसी मान्यता की जड़ मजबूत करने के लिये भावुकता का
लिया जाता है। प्रश्न उठाया जाता है कि तृषातुर को
र कराना या क्षुधा संतप्त की क्षुधा न मेटना कितना बड़ा
ा। ऐसा न करना दया की विडंबना होगी। ऐसी भावुकता
ा लेने के पहले ये आसानी से भुला देना चाहते हैं कि एक
तुष्टि के लिये कितने जीवों की घात होगी। इस सम्बन्ध में
दृष्टिकोण की न्यायपरायणता हमारे सम्पूर्ण विवेचन पर ध्यान
अवश्य स्पष्ट हो जायेगी। पाप करते हुए भी पाप को पाप
ा उससे बचने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक है। खून के प्या
आंख मूंद कर दूध के फेर में पीते जाने के बनिस्बत
को जानने से ही एक दिन घृणा होने पर वह
ेगा।

को पुष्ट करता है। उपर्युक्त पांच प्रकार के स्थावर जीव बड़े छोटे हैं। इनकी भाषा मौन है। हम इनके दुःख का आभास क्रन्दन या अश्रुपात में नहीं पाते तथा यही कारण है कि इनकी व्यथा की गहराई भी हम कभी नहीं नाप सके। पर क्या किसी की मूक पीड़ा का उपहास करना उचित है? क्या एक अन्धे, गूंगे और बहरे मनुष्य को कष्ट देना इसलिये अपराध नहीं माना जायेगा कि वह दुःख प्रकाश नहीं कर सकता? हमें सखेद कहना पड़ता है कि जैनेतर तो क्या स्वयम् जैन विचारकों में से भी कई एक ने भ्रम में पड़ कर इन निरीह प्राणियों की कीमत कूतने में शास्त्रों के भावों की अवहेलना की है। उपदेश दिये गये हैं कि मनुष्य, जो जीव जगत् का मुकुट है, की सुख वृद्धि के लिये स्थावर जीवों का हनन अपराध रहित है। ऐसी प्ररूपणा मानव हृदय की दुर्बलता का सहारा पाकर सूखे बन में लगी आग की तरह फैल गई। ऐसी मान्यता की जड़ मजबूत करने के लिये भावुकता का सहारा भी लिया जाता है। प्रश्न उठाया जाता है कि तृषातुर को जल पान न कराना या क्षुधा संतप्त की क्षुधा न मेटना कितना बड़ा अनर्थ होगा। ऐसा न करना दया की विडंबना होगी। ऐसी भावुकता का सहारा लेने के पहले ये आसानी से भुला देना चाहते हैं कि एक जीव की तुष्टि के लिये कितने जीवों की घात होगी। इस सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण की न्यायपरायणता हमारे सम्पूर्ण विवेचन पर ध्यान देने से अवश्य स्पष्ट हो जायेगी। पाप करते हुए भी पाप को पाप जानना उससे बचने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक है। खून के प्याले को आंख मूंद कर दूध के फेर में पीते जाने के बनिस्बत उसके असली [illegible] जानने से ही एक दिन घृणा होने पर वह शीघ्र त्यागा जा [illegible]।

दया और आचार्य भीखणजी :

प्रातःस्मरणीय श्रीमद् आचार्य भिक्षु गणिराज का जन्म दया

जीव भेद :

शारीरिक स्वरूप भेद से जीवों को ६ मुख्य समुदायों में श्रेणी किया जा सकता है : —(१) वह जीव समुदाय जो पृथ्वी के पुद्गलों शरीर रचना करता है (२) वह जो जल से शरीर रचना करता (३) वह जिनका पवन ही शरीर है (४) वह जिनका अग्नि-शरीर (५) वह जिनका वनस्पति-शरीर है (६) तथा वे जो त्रस हैं अथ जिनमें आवागमन की, चलने फिरने की शक्ति है। त्रस जीवों इन्द्रिय न्यूनाधिक्य के अनुसार चार उपभेद हैं—बेइन्द्री (स्पर्श तथ रस इन्द्री युक्त जैसे लट, गिडोला इत्यादि); तेइन्द्री (स्पर्श, रस तथ घ्राण इन्द्री युक्त जैसे कीड़ी मकोड़े इत्यादि); चौरेन्द्री (स्पर्श, रस, घ्राण तथा चक्षु इन्द्री युक्त जैसे मक्खी इत्यादि) पंचेन्द्री (स्पर्श, रस, घ्राण चक्षु तथा श्रोत इन्द्री युक्त जैसे गाय, घोड़े, पशु, पक्षी इत्यादि)। मानव प्राणी पंचेन्द्री जीवों के अन्तर्गत हैं, पर ये विशिष्ट पद वाले हैं— इनकी विवेक तथा विचार शक्ति विशेष रूप से विकसित है। इनमें शेषोक्त भेद त्रस जीव तो अपनी आवागमन की क्रिया के कारण जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ पुरुषों द्वारा भी जीव श्रेणी में शीघ्र ही सम्मिलित कर लिया जाता है। पर इसके पूर्व के जीव समुदाय तो स्थावर हैं, इनमें जीव सम्बन्धित बाह्य क्रियाओं का अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता तथा इसीलिये इनके जीवत्व के सम्बन्ध में शंका उठनी अस्वाभाविक नहीं। पर हमें हर्ष है कि विज्ञान ने ऐसी शंकाओं का समाधान जीवत्व की क्रियाओं को प्रत्यक्ष दिखा कर कर दिया है। आचार्य जगदीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध किया है कि पेड़ पौधों में, लता गुल्मों में अर्थात पूरे उद्भिज्ज जगत् में संवेदन शक्ति काफी तीव्र रूप में मिलती है। इसी भांति पृथ्वी एवं जल में जीव का अस्तित्व विज्ञान-प्रमाणित है। यही प्रमाण शेष दो, वायु तथा अग्नि में जीव स्थिति की धारणा

को पुष्ट करता है। उपर्युक्त पांच प्रकार के स्थावर जीव बड़े छोटे हैं। इनकी भाषा मौन है। हम इनके दुःख का आभास क्रन्दन या अश्रुपात में नहीं पाते तथा यही कारण है कि इनकी व्यथा की गहराई भी हम कभी नहीं नाप सकते। पर क्या किसी की मूक पीड़ा का उपहास करना उचित है? क्या एक अन्धे, गूंगे और बहरे मनुष्य को कष्ट देना इसलिये अपराध नहीं माना जायेगा कि वह दुःख प्रकाश नहीं कर सकता? हमें सखेद कहना पड़ता है कि जैनेतर तो क्या स्वयम् जैन विचारकों में से भी कई एक ने भ्रम में पड़ कर इन निरीह प्राणियों को कीमत कूतने में शास्त्रों के भावों की अवहेलना की है। उपदेश दिये गये हैं कि मनुष्य, जो जीव जगत् का मुकुट है, की सुख वृद्धि के लिये स्थावर जीवों का हनन अपराध रहित है। ऐसी प्ररूपणा मानव हृदय की दुर्बलता का सहारा पाकर सूखे बन में लगी आग की तरह फैल गई। ऐसी मान्यता की जड़ मजबूत करने के लिये भावुकता का सहारा भी लिया जाता है। प्रश्न उठाया जाता है कि तृषातुर को जल पान न कराना या क्षुधा संतप्त की क्षुधा न मेटना कितना बड़ा अनर्थ होगा। ऐसा न करना दया की विडंबना होगी। ऐसी भावुकता का सहारा लेने के पहले ये आसानी से भुला देना चाहते हैं कि एक जीव की तुष्टि के लिये कितने जीवों की घात होगी। इस सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण की न्यायपरायणता हमारे सम्पूर्ण विवेचन पर ध्यान देने से अवश्य स्पष्ट हो जायेगी। पाप करते हुए भी पाप को पाप जानना उससे बचने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक है। मून के प्याले को आंख मूंद कर दूध के फेर में पीते जाने के बनिस्वत उसके असली रूप को जानने से ही एक दिन घृणा है[illegible] [illegible]र त्यागा जा सकेगा।

पोषण के लिये दूसरे के शोषण में तो राग और द्वेष दोनों ही का अस्तित्व है। ऐसी दया तो दया के वेष में क्रूरता है। यह निखालिस पाप है। साम्यवाद की भावना हमारे उपर्युक्त कथन को पुष्ट करती है। पर वह साम्यवाद कितना विशाल कितना विस्तृत है जिसने केवल मानव समाज को ही अपनी गोद में स्थान न दिया बल्कि जीव मात्र को। श्रीमद् आचार्य भिक्षु गणिराज ऐसो ही समानता के पुजारी थे। जैन समाज को उनकी उस अनुपम देन के लिये सदा आभारी रहना चाहिये।

राग-द्वेष की पहिचान :

ऊपर हम देख चुके हैं कि राग और द्वेष ही क्रूरता तक को दया का बाना पहना सकते हैं। ये ही हमारी आंखों पर स्थायी परदा डाल सकते हैं। अतः हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने के पूर्व या दया को पूरी तरह पालन कर सकने के पहले राग द्वेष को जीतना, उन्हें अच्छी तरह पहचानना नितान्त आवश्यक है। द्वेष भाव तो शीघ्र ही जाना जा सकता है—यह वह पैनी तलवार है जिसके धंसते ही पीड़ा शुरू हो जाती है। पर राग या मोह भाव तो मधु में लिपटा हुआ विष है जिसका क्षणिक मीठास उसके घातक विष को छिपा देता है। मोह विश्वासघाती है। यह मनुष्य को छलछद्‌म से परास्त करता है। यह तो वह सोने की हथकड़ी है, जिसे हम गहना मानकर स्वीकार कर लेते हैं। मोह की मारात्मक शक्ति का क्या ही सुन्दर ढंग से ग्रन्थकारों ने वर्णन किया है :—

> बन्धनानि खलु संति बहूनि प्रेम रज्जु दृढ़ सम आहुव।
> दारु भेद निपुणोऽपि षड़ांगि निष्क्रियो भवति पंकज कोशे॥

अतः मोह के वशवर्त्ति होकर पाप या अकर्त्तव्य को उचित करार ठीक नहीं। यदि मोह की प्रबलता ने हमारे आचरण में शिथिलता

ला दी है तो उस शिथिलता को हमारे ज्ञान में प्रवेश क्यों करने दें ? केवल सत्य की उपासना अर्थात् तथ्य के वास्तविक स्वरूप को मानना भी बड़ा फलप्रद है। सत्य और अहिंसा की तुलना करते पंडित दरबारीलालजी ने सत्य को पति एवं अहिंसा को जो पत्नी की उपमा दी है वह बड़ी संगत बैठती है। सत्य ही अहिंसक आचारण की सामग्री उपस्थित करता है, यही अहिंसा को पुष्ट करनेवाला पथ प्रदर्शक है। अतः मोह को सत्य पर आक्रमण न करने देना चाहिये। मनन करने पर तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मोह तो द्वेष का रूपान्तर मात्र है। जहाँ राग है वहाँ द्वेष है, जहाँ द्वेष वहाँ राग। मोह के कारण ही तो किसी के प्रति द्वेष-भाव उठेगा। हम निज से, परिवार, जाति या देश से मोह करते हैं तभी तो हमें इनके सुख-स्वार्थ के लिये दूसरे-दूसरे जीवों से वैर बांधना पड़ता है। अतएव मोह के फुनदले फंदे से हर समय बचना चाहिये। सच्चा साधुत्व तो इसी में है कि हम जैन शास्त्रों के इस महान् उपदेश को सत्य कर दिखावें—"मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ"।

प्राण-रक्षा और दया :

ऊपर दया के एक विशिष्ट पहलू पर विवेचन किया गया है पर अब हमें देखना है कि कोरी प्राणरक्षा भी दया कोटि में आ सकती है कि नहीं ? श्रीमद् भिक्षु गणि का एक दृष्टान्त इस विषय को बड़ा स्पष्ट करता है। एक योगीराज के सम्मुख ही एक चूहे पर बिल्ली टूट पड़ी। योगी को करुणा हो आई। उन्होंने मन्त्रबल से उस चूहे को एक सबल बिल्ला बना दिया और बिल्ली से उसकी रक्षा की। इतने पर कहीं से एक कुत्ता उस ओर आ निकला तथा दुबारा बिल्ले के प्राण संकट में देख योगी ने उस बिल्ले को कुत्ते का रूप दिया। पर दैव योग से उसी समय एक विकराल भेड़िया वहाँ आ पहुंचा। इस बार कुत्ते के प्राण

का उपाय न देख तथा बार-बार उसकी रक्षा करने से तंग आ योगी ने उसे केशरी सिंह बना कर अन्य जन्तुओं से उसे भय मुक्त कर दिया। पर क्षुधा पीड़ित यह सिंह अन्य भक्ष्य न पाकर योगी पर आक्रमण करने का उपक्रम करने लगा। यह देख योगिराज की मोह निद्रा टूट गई और उन्होंने उस सिंह को पुनः वही क्षुद्र चूहा बना दिया। हिंसक की रक्षा में दया कैसी ? दया तो हिंसक की हिंसा वृत्ति को उपदेश द्वारा छुड़ाने में है। हिंसा भाव तो संयती साधुवर्ग को छोड़ कर सभी में न्यूनाधिक परिमाण में पाया जाता है। क्षुद्र जीवों की हिंसावृत्ति उनकी निर्बलता के कारण दबी रहती है—पर उन्हें शक्तिशाली करते ही, चूहे को सिंह का बल देते ही—यह हिंसा की ज्वाला धधक उठेगी। असंयती जीवों को पुष्ट करना तो हिंसा की तलवार को तेज करना है। यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि यह तलवार तुरन्त कामयाब होगी या कालान्तर में। इस पूरे विवेचन का निचोड़ स्वामीजी के सारगर्भित शब्दों में कहें तो यही है कि—"असंयती जीव को जीवन-कामना में राग है, उसकी मृत्यु कामना में द्वेष और संसार समुद्र से उसके तिरने की वांछा में ही जैनधर्म का अस्तित्व है"

वास्तविक सुख क्या ?

असंयती जीव की मरण या जीवन-कामना में जो राग और द्वेष का पुट है वह ऊपर दिखाया जा चुका है। अब हमें जीव की परम सुख प्राप्ति की चेष्टा, अथवा दूसरे शब्दों में, उसके संसार-समुद्र से निस्तार पाने के उपाय का दिग्दर्शन कराना है। दया की व्याख्या हमने प्राणी के दुःख निवारण या सुखवृद्धि की चेष्टा से की है। पर हमें सुख का स्वरूप समझना चाहिये। बिना [illegible] नहीं हो सकता। यह तो स्वयम् सिद्ध [illegible]
की लालसा निहित है। पर [illegible]

जीव पड़े हैं क्या? साधारणतः किसी पुरुष के पास अच्छा स्वास्थ्य, प्रचुर धन, स्नेह-शील परिवार वर्ग हो तो हम उसे सुखी मानते हैं। यही क्या हमारे पूर्ण सुख की पूर्ण व्याख्या है? कुछ चिंतन पर ही इस व्याख्या की त्रुटियाँ नजर आ जायेंगी। उपर्युक्त साधनों से लैस पुरुषों को भी दुःखी होते देखा है—ऐसे कई एक महापुरुषों ने संसार से मुँह मोड़ कर वैराग्य धारण किया है। सुख के प्रति यह उदासीनता कैसी? हम कुछ और गहरे उतरें। आँखें खोल कर चारों तरफ देखने से यह अनुभव मिलता है कि सुख की कल्पना प्रत्येक मनुष्य में ही भिन्न नहीं है पर किसी एक ही मनुष्य की सुख धारणा काल भेद से परिवर्तित होती चली जाती है। बाल्यकाल में बच्चे खिलौने चाहते हैं, खेल कूद में ही वे सुख की अनुभूति करते हैं। युवावस्था के पदार्पण करते ही यह बाल्य सुलभ क्रीड़ा चली जाती और उसका स्थान ले लेती है विषय पूर्ति की लालसा। जीवन के ऋतु परिवर्तन के साथ यह भावना भी मर जाती है और प्रौढ़ावस्था में मन का आकर्षण दूसरी ही तरफ खिंच जाता है। कभी कभी ऐसा भी एक समय आता है जब अवसाद हमें घेर लेता है और इन्द्रियों में सुख-बोध की शक्ति ही नहीं रहती। इस तरह हम देखते हैं कि हमें सुख के साधनों को नित्य प्रति बदलना पड़ता है। जो खिलौने बाल्यकाल में सुख के साधन हैं वे युवावस्था में काम नहीं देते। इसी भांति जीवनपर्यन्त पूर्ण परम सुख प्राप्ति की चेष्टा में हम सुख के साधन, सुख की कल्पना बदलते जाते हैं पर शान्ति या अभीष्ट सुख नहीं मिलता। संसार में पग-पग पर दुःख मिला करता है—जो सुख मिलता है वह भी अनित्य, परिवर्तनशील। सच तो यह है कि पौद्गलिक सुख तो फूलों में छिपा सांप है या यों कहें कि दुःख का अग्रगामी दूत मात्र है। यदि यही क्षणिक सुख वास्तविक सुख हो, यदि यही सुख जो दुःख से अछूता कभी [illegible] हो तो हमें उदास होकर कहना पड़ेगा कि

जीवन बड़ा दुःखमय है, इसमें कहीं त्राण नहीं। पर मनन करने पर ज्ञात होता है कि एक और सुख है, एक और महान् सुख है जो वास्तविक एवं शाश्वत है। इसी सुख को प्राप्त करना मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना चाहिये। ऐसे सुख को आनन्द या आत्मानन्द कहना स्पष्टता के लिये उपयोगी होगा।

आनन्द या आत्मानन्द को एक उदाहरण से अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है। एक बेकार मनुष्य नौकरी की तलाश में घूम रहा है। उसे सूचना मिलती है कि एक व्यवसायिक ने उसे जगह देने का वचन दिया है। बेकार मनुष्य चट खिल उठता है। यह खुशी का श्रोत कहाँ से फूट निकलता है ? उस मनुष्य को इस खबर से कोई आर्थिक या अन्य लाभ अभी तक नहीं हुआ है, और शायद, जब हम पद-पद पर अनकल्पित घटनाओं को होते देखते हैं, तो हो ही न। अतः अल्पचिंतन पर ही यह निश्चित होता है कि इस खुशी का उद्गम विश्वास में है। इस विश्वास में बेकार अवस्था से मुक्त होने की आशा है। चिन्ता के एक बंधन से मुक्त होने के कारण सुख का विलास है। पर विवेक शून्य प्राणी प्रायः चिन्ता के एक बंधन से मुक्त हुआ तो और अनेक चिन्ताओं का जाल बुनकर अपने लिये तैयार कर लेता है तथा चिन्ता मुक्ति का सुख दुगुने दुःख में बदल जाता है। प्राणी चिन्ता के एक-एक तार को अलग रूप से तोड़ फेंकने में समर्थ है पर जब एक तार टूटने के पहले दो तारों में उलझते चले जाने का क्रम चालू रहता है तो वह मकड़ी के झीने ताने-बाने में फंसी हुई मक्खी की तरह उलझा ही रह जाता है। पर इस सत्य को समझ कर जीव जब नूतन बंधनों की सृष्टि करना रोक देता है तो क्रमसर वह सर्व चिन्ता एवं बंधनों से मुक्त हो जाता है। नौकरी पाने की खुशी और मुक्तावस्था के इस सुख में कितना अन्तर है—यह कल्पना की ऊंची से ऊंची उड़ान से भी नहीं जाना जा सकता है।

पौद्गलिक या इन्द्रियगम्य सुख उसी हद तक रहता है जब तक सुख उत्पादक साधन इन्द्रियोंके सम्पर्क में रहें। यह सम्पर्क टूटते ही सुख की धारा भी रुक जाती है। ऐसा सुख आत्म भिन्न जड़त्व से उत्पन्न होने के कारण पराधीन है पर आत्मिक सुख आत्मा के सहज स्वाभाविक उल्लास में है। इस आनन्द का श्रोत आत्मा में है अतः यह स्व आधीन है। आत्मा नित्य है इसलिये यह आनन्द भी नित्य है। यह अनन्त चिन्ता राशि-कर्म वर्गणाओं से मुक्त होने पर प्रकट होता है अतः यह अनन्त है। यही नित्य, अनन्त आनन्द हमारा लक्ष्य है— मुमुक्षु का प्रत्येक कार्य क्रम इसी साधना के ताल पर तरङ्गित होना चाहिये। अन्य प्राणियों को मुक्ति यात्रा पर आरूढ़ कर उन्हें चालित रखना ही उनके प्रति उत्कृष्ट दया का पालन है।

बाधा क्या ? :

मुक्ति प्राप्ति में बाधा क्या है? इस बाधा को देखकर उसका निराकरण करना चाहिये। हम उसी बेकार मनुष्य वाले उदाहरण को लेते हैं। बेकार मनुष्य को नौकरी मिलने पर खुशी हुई। वह काम पर गया। पर वहाँ पर अपने स्वामी की सत्ता देखकर उसका जी मचलने लगा कि मुझे भी यही सत्ता प्राप्त हो। अब उसे नौकरी मिलने की खुशी नहीं पर सत्ता के अभाव की कल्पना का दुःख है। यह तो स्वाभाविक ही है—"मनोरथानां न समाप्तिरस्ति"। इस तरह अपनी माँगों को बढ़ाये जाने के क्रम में मृगमरीचिका का दुःख भरा है। यदि हमारे पेट की थैली रबड़ की थैली की तरह नित्य बढ़ती रहे जाय तो हमें सदा भूखा ही रहना पड़े। अपनी माँगों को संकुचित कर उन्हें निर्मूल करने में ही वास्तव सुख है। इसी सुख की साधना से शान्ति मिल सकती है।

सुख, हम कह चुके हैं, कि (१) आत्मिक या (२) इन्द्रियगम्य हो सकता है। इन्द्रियगम्य सुख अपनी वृद्धि वासना के प्रसार में पाता है पर आत्मिक सुख इनके संकोच में। यही कारण है कि इन्द्रियगम्य सुख की चाह हमें वास्तविक आत्मिक सुख से दूर से दूरतर, दूरतर से दूरतम ले जानेवाली है। इसी हेतु इन्द्रिय सुख सर्वथा अग्राह्य है। इन्द्रिय-सुख लिप्सा तो एक तीव्र विकार है। इस प्रमाद को गहरा करना या इसे स्वाभाविक करार देना तो प्रमाद मुक्त का कर्त्तव्य नहीं है। इसीलिये यह भी जोड़ देना अप्रासंगिक न होगा कि सुख के सच्चे स्वरूप का निर्णायक वही है जो वास्तविक तथ्य को समझ सके।

श्रावक और दया :

अब तक का सारा विवेचन स्पष्टतः संपूर्ण, सर्वाङ्गीण दया को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। सर्वाङ्गीण या शास्त्रीय भाषा में सार्वदेशिक दया पालन तो पूर्ण संयति साधुवर्ग के लिये ही संभव है। साधुवर्ग ही मन वचन काया से 'कृत कारित अनुमोदित', तीन करण के साथ दया का पालन कर सकता है। चूक तो छद्मस्थ साधु से भी हो सकती है पर राग और द्वेष को निर्मूल करने की सतत् एवं जागरूक चेष्टा तथा दोष सेवन का आभास मिलने पर दण्ड प्रायश्चित द्वारा उसे धो देने की क्रिया के कारण उन्हें दया का पूर्ण पालक कहा जा सकता है। ऐसा वैराग्यपूर्ण कठोर कर्त्तव्य पालन गृहस्थियों के लिये, गृहस्थाश्रम के भोगोपभोगों को भोगते हुए शक्य नहीं। पूर्ण, सार्वदेशिक दया का खाका खींचकर तो समाज के आदर्श की स्थापना की गई है। साधु-समाज पूर्ण दया का सुचारु परिपालन कर श्रावक मण्डली के सम्मुख तो जीवन ज्योति से भरा पूरा आदर्श रखता है यह अमूल्य है। यह साधारण अनुभव है कि आदर्श तक बहुत कम ही पहुंच सकते हैं। पर

इससे आदर्श में कोई दोष नहीं आता। इसीलिये एक उच्च आद
को अपनी निर्बलता के कारण अशक्य समझ कर उसे नीचे खींच
मलीन कर देना सर्वथा अनुचित है।

जैन धर्म में साधु समाज के आचार विचार, क्रिया-कलाप, नि
नियमों का नियमन करते समय श्रावक समुदाय की आवश्यक
का ख्याल कभी ओझल नहीं हुआ है। श्रावक समाज के लिये
दया पालन का उचित विधान है। ऐसी दया आंशिक होगी। हि
के जिन-जिन भेदों को या रूपों का त्याग किया जायेगा वे ही दया
सम्मिलित होते जायेंगे। यदि कोई त्रस जीवों को बिना अप
संकल्प कर नहीं मारता तो वह उस हद तक दया का पालन क
है। इस त्याग की हद को वह स्वेच्छानुसार, निज पुरुषार्थ को देख
बढ़ा सकता है अथवा त्याग की अवधि चूकने पर घटा भी सकता
श्रावक के त्याग काल तथा परिमाण से सीमित हैं पर साधु के त्
जीवन पर्यन्त सभी सावद्य योगों के हैं। इसलिये श्रावक के त्
हैं तो मोदक ही, पर मोदक है अपूर्ण। श्रावकों को त्याग की दृ
महत्व देते हुए ही पूज्यपाद भिक्षुगणी ने चतुर्विध संघ को ही
की माला की उपमा दी है। साधु समाज बड़ी माला है तो श्रावक
छोटी। पर हैं दोनों रत्नों की ही माला। श्रावक को त्याग तथा
की क्रमानुक्रम वृद्धि द्वारा अपने गुण रत्नों को बढ़ाते रहना चा
ऐसी लालसा तथा चेष्टा ही उसके आत्मविकास में प्रधान स
होगी। इसीसे आदर्श की ओर उत्तरोत्तर शीघ्र गति बनी रहेगी
जो क्रिया असाध्य मालूम देती है वही साध्य प्रतीत होने लगेगी।

जैन शास्त्रों में राग-द्वेष की विष-ग्रन्थि के भेदने का सुन्दर एवं
वर्णन है। चौदह गुण स्थानों का वर्णन भी राग-द्वेष के भाव
तरतम भावापन्न अवस्थाओं के आधार पर ही किया गया है।
क्या श्रावक क्या साधु सभी के लिये अन्तः प्रवृत्तियों को शुद

सदाचार का अर्जन करना, मान और लोभ के परिग्रह भावों को कम से कम, मन से निकाल फेंकना, आत्मोन्नति के लिये नितान्त आवश्यक है। हानि संसार में रहने में नहीं है पर संसार का बनकर रहने में है। नौका जब तक जल के ऊपर तैरती रहे कोई हानि नहीं पर उसमें जल भरने देने से वह डूब जायेगी। संसार से अनासक्त रहने में हानि नहीं पर आत्मा में सांसारिक मोह द्वेष तथा तद्जनित क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि मनोविकारों को भरने देने से आत्मा का पतन अवश्यम्भावी है। अतः दया का भी मन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। केवल प्राण-विराधना न करना पर मन में कुविचारों को, पर के शोषण के आधार पर निज पुष्टि के भावों को, प्रबल करते रहना केवल शुष्क व्यवहार मात्र होगा। इसमें लाभ अवश्य है, पर है नगण्य। इसी प्रकार के संशय में पड़ कर, तो कई एक भ्रम से कह ही डालते हैं कि जैन दया विचित्र है—इसमें क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी की विराधना रोकने के लिये तो इतना विधान है पर उस मानसिक हिंसा को, जो समाज के वर्तमान ढांचे के कारण है, रोकने का कोई प्रयत्न नहीं है। यह जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रहने की बदौलत है। जैन धर्म में बाह्याडम्बर या रूढ़िगत शुद्ध क्रिया को कहीं भी महत्व नहीं दिया गया है। केवल कई एक क्षुद्र शरीर वाले जीवों की हिंसा टालने पर मोह और द्वेष का गुलाम बने रहने से अहिंसा या दया तो नाम मात्र की ही होगी। अतः दया का उत्कर्ष तो वहीं से होगा जब पाप के आदि श्रोत राग और द्वेष के भावों को शिथिल कर दिया जाय। यही जैन धर्म का वास्तविक अभिप्राय है। अतएव कोई भी जीवन पद्धति या सामाजिक व्यवस्था हमारे राग द्वेष के भावों को हलका करने में सहायक हो तथा हम में अहिंसक भावों को पुष्ट करे तो वह जीवन पद्धति या समाज व्यवस्था जिस हद तक व्यक्तिगत क्षेत्र या सामाजिक विचारों में अहिंसा भाव को दृढ़ करती है, मान्य एवं उपादेय है।

यह तो स्वाभाविक है कि श्रावक के क्रिया कलापों में हिंसा तथा अहिंसा ओत प्रोत हैं। पर हमें सर्वदा सतर्क रहना चाहिये कि श्रावक का वही कार्य अनुकरणीय है जो अहिंसक हो। अहिंसक उद्देश्य से किया गया हिंसक कार्य भी हिंसक ही है। अतः उच उद्देश्य के भुलावे में पड़ कर ही हिंसक कार्य को अहिंसक करार नहीं दे सकते।

अब हम इस विवेचन को इस हार्दिक इच्छा के साथ सम्पूर्ण करते हैं कि सुखों की बेल सुखों की खान दया भगवती का आलम्बन कर—

"सव्वे सत्ता सुखिनो भवन्तु
सव्वे सन्तु निरामया"